जीवन - ज्योति माला

हरगोविन्द खुराना

सन्तराम वत्स्य

जीवन - ज्योति माला

हरगोविन्द खुराना

सन्तराम वत्स्य

ज्ञानभारती, दिल्ली

दो शब्द

"विज्ञान की व्यक्तिगत शाखाओं और उनके विकास में योग देने वाले मुख्य वैज्ञानिकों की जीवनियों का अध्ययन विज्ञान के वास्तविक अर्थ और उसकी आत्मा को ठीक तरह समझने के लिए जरूरी है। उसके पढ़ने से हमें जो स्फुरणा प्राप्त होती है, वह प्रायः विज्ञान पर लिखे गए अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण औपचारिक ग्रन्थों से अधिक होती है।"

(चन्द्रशेखर वेंकट रामन)

नोबेल पुरस्कार विजेता जगत-प्रसिद्ध महान् वैज्ञानिक श्री चन्द्रशेखर वेंकट रामन के ये वाक्य ही इस 'जीवन ज्योति-माला' की प्रेरणा हैं।

'जीवन-ज्योति माला' की इस प्रथम लड़ी में देश-विदेश के महान् वैज्ञानिकों की जीवनियां प्रस्तुत की जा रही हैं।

वैज्ञानिक सबसे अधिक जिज्ञासु लोग होते हैं। उनके मन में अपने चारों ओर की वस्तुओं के बारे में तरह-तरह के प्रश्न उठते हैं। और वे उन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए अनेक पुस्तकें पढ़ते हैं, उन वस्तुओं का बारीकी से निरीक्षण और परीक्षण करते हैं। 'क्यों ? और कैसे ?' का उत्तर ही हमारी सारी वैज्ञानिक खोजें हैं।

आज के युग को इन वैज्ञानिक खोजों के कारण ही 'विज्ञान का युग' कहा जाता है। इन खोजों के कारण ही आज हम अनेक सुख-सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं। कुछ दशक पूर्व असम्भव लगने वाली बातें आज इतनी साधारण हो गई हैं कि उनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। रेल-मोटर, हवाई जहाज़, बिजली, कैमरा, एक्सरे, सिनेमा-रेडियो-टेलीवीजन, टेलीफोन, ग्रामोफोन, परमाणु बम और अन्तरिक्ष यान आज हमें आश्चर्य चकित नहीं करते। पर यदि इन खोजों की कहानी आप पढ़ें तो अवश्य चकित

रह जाएं। तब आपको यह भी पता चल जाएगा कि इन खोजों के पीछे अनेक वैज्ञानिकों की वर्षों की सतत साधना है। किसी वैज्ञानिक के मन में एक बात आई और उसने परीक्षणों तथा प्रयोगों द्वारा उसका पता लगाना प्रारम्भ किया। उसी खोज को बाद के वैज्ञानिकों ने और आगे बढ़ाया और इस प्रकार अनेक वर्षों में वह कार्य पूरा हुआ। विज्ञान की एक-एक खोज में अनेक राष्ट्रों और युगों के व्यक्तियों का योग है।

ज्ञान का यह भण्डार पुस्तकों में हम सबको मिल सकता है, उससे लाभ उठाकर, हम नई खोजों और विज्ञान के नए चमत्कारों की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

पुस्तकों में संचित ज्ञान का लाभ उठाकर, इसे सीढ़ी बनाकर नए अविष्कारों और खोजों तक पहुंचने वाला आगामी युग का वैज्ञानिक कौन होगा ? वह आप भी हो सकते हैं।

इन जीवनियों को पढ़कर यह स्पष्ट पता चल जाएगा कि वैज्ञानिक खोजें संयोगमात्र या किसी चमत्कार पर आधारित न होकर वर्षों के अथक परिश्रम का परिणाम हैं। इन जीवनियों को पढ़कर जहां हमें विज्ञान के सम्बन्ध में अनेक बातों का पता लगेगा, वहां उन गुणों से भी परिचय होगा, जिनके कारण वैज्ञानिक सफल हो सके।

विज्ञान के जिज्ञासुओं और छात्रों के लिए वैज्ञानिकों के जीवन-चरित्रों का अध्ययन बड़े महत्त्व का है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का तो यह मत है कि विज्ञान की प्रारम्भिक शिक्षा वैज्ञानिकों के जीवन-चरित्रों द्वारा ही शुरू होनी चाहिए।

पाठकों की रुचि विज्ञान में बढ़े, वे जीवन में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाएं और निरीक्षण और परीक्षण के अभ्यस्त बनें, इस आशा और विश्वास के साथ मैं इसे प्रस्तुत कर रहा हूं।

—सन्तराम वत्स्य

१६ अक्तूबर, १९६८ ई० को भारतीय समाचार-पत्रों में प्रथम पृष्ठ पर मोटे-मोटे अक्षरों में, १९६८ का विज्ञान-विषय का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले तीन वैज्ञानिकों में, डा० खुराना का नाम प्रमुखता से छपा।

जन-साधारण के लिए यह नाम एकदम नया था। और उतना ही नया नाम उस खोज का था, जिसके लिए यह पुरस्कार मिला था। वैज्ञानिकों को छोड़कर दोनों के बारे में भारतीय नागरिकों को, कोई जानकारी नहीं थी।

बाद में डा० खुराना और उनकी खोज के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी पत्र-पत्रिकाओं से लोगों को मिली। इनमें कुछ बातें ऐसी भी थीं, जिन्हें पढ़कर भारतीयों को कुछ ठेस पहुंची। पहली यह कि डा० खुराना दो वर्ष पूर्व भारतीय नागरिकता छोड़कर अमेरिका की नागरिकता स्वीकार कर चुके हैं, और दूसरी यह कि भारत में उन्हें न तो ढंग की कोई नौकरी मिल सकी और न खोज-कार्य की सुविधा ही। इस

बात पर खेद प्रकट किया गया कि प्रतिभाशाली भारतीय, सरकारी तंत्र की उपेक्षा के कारण विदेशों को जा रहे हैं और उनकी योग्यता का लाभ इस विकास-शील महान् देश को नहीं मिल रहा है।

डा० खुराना कौन हैं ? वे किन परिस्थितियों में देश छोड़कर गए और उन्होंने वह कौन-सी खोज की है, जिसके लिए उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला, इन बातों की जानकारी आवश्यक है।

जन्म और शिक्षा

हरगोविन्द खुराना का जन्म ९ जनवरी, १९२२ ई० को, रापुर गांव (जिला मुलतान, पंजाब) में हुआ था। मुलतान जिला अब पश्चिमी पाकिस्तान में चला गया है। हरगोविन्द के पिताजी का नाम लाला गणपतराय और मां का नाम कृष्णादेवी था। लाला गणपतराय पटवारी थे। लालाजी के पांच सन्तानें थीं। चार बेटे और एक बेटी। हरगोविन्द चारों बेटों में सबसे छोटा था। इसलिए माता-पिता का लाड़ला भी।

प्रारम्भिक शिक्षा गांव में ही हुई। पढ़ने-लिखने में वह प्रारम्भ से ही तेज़ था। सबसे योग्य छात्र होने के कारण, प्राथमिक विद्यालय में ही उसे छात्रवृत्ति मिलने लगी थी। मिडिल की परीक्षा खानेवाल से दी और गोविन्द फिर जिले भर में प्रथम आया।

हरगोविन्द जब बारह वर्ष का था, उसके पिताजी का देहान्त हो गया। लाला गणपतराय जी की धर्म और ईश्वर में गहरी आस्था थी। श्रीमती कृष्णादेवी भी धार्मिक प्रवृत्ति वाली थीं। वे हिन्दू महिलाओं के आचारों का बड़ी निष्ठा के साथ पालन करती थीं।

लाला गणपतराय अपने काम को बड़े परिश्रम और लगन के साथ करते थे। उनके गुणों का प्रभाव हरगोविन्द पर भी पड़ा।

लाला गणपतराय की मृत्यु के बाद परिवार का सारा बोझ कृष्णादेवी के कन्धों पर आ पड़ा। हरगोविन्द के दोनों बड़े भाई नौकरी के लिए बाहर चले गए। बहन का विवाह हो गया। मां और दो छोटे भाई—नन्दलाल खुराना और हरगोविन्द घर पर रह गए। दोनों बड़े भाई कमाने लगे थे, इसलिए गृहस्थी का खर्च चलने लगा।

गोविन्द का अपने से बड़े भाई नन्दलाल से बड़ा प्यार था। वह अपने पढ़ने-लिखने के काम को खेल जैसा रूप दे देता और 'खेल-खेल में काम' की बात को चरितार्थ करता। समय का सदुपयोग करना उसने बचपन में ही सीख लिया था। बहुत से बालक भोजन के समय से पूर्व ही काम-काज छोड़कर भोजन की प्रतीक्षा करने लगते हैं पर गोविन्द अपना बस्ता लेकर प्रायः खाना बनाती मां के पास जा बैठता और वहीं बैठा-बैठा अपना स्कूल का काम कर डालता। वह रोटी बनाती मां से शर्त बदता कि एक रोटी बनाने में मां अधिक समय लगाती है या एक सवाल निकालने में मैं

अधिक समय लगाता हूं। वह अपने बड़े भाई नन्दलाल से घड़ी सामने रखकर शर्त लगाता कि एक मिनट में मैं अधिक शब्द लिखता हूं या आप, और प्रायः जीत जाता।

जब वह कमरे में बैठकर पढ़ाई कर रहा होता और भोजन के लिए पुकार होती तो 'बस अभी आया' या 'एक सवाल बाकी रह गया है, उसे करके आता हूं', कहता रहता और अपना काम पूरा करके ही उठता। उधर परोसा हुआ भोजन थाली में ठंडा होता रहता और मां प्यारभरी झिड़कियां देती।

मिडिल की परीक्षा में जिले भर में प्रथम आने के कारण उसे फिर छात्रवृत्ति मिली। अब आगे की पढ़ाई का प्रश्न था। नवमी कक्षा में मुलतान नगर के डी० ए० वी० स्कूल में प्रवेश किया। इस मेधावी छात्र को सभी अध्यापक चाहते थे और हर तरह प्रोत्साहित करते थे। हरगोविन्द में प्रतिभा और परिश्रम दोनों का मेल सोने में सुगन्ध जैसा था। प्रायः देखा गया है कि प्रतिभाशाली छात्र अधिक परिश्रम नहीं करते हैं। अनेक प्रतिभाशाली छात्र अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग न करके साधारण कोटि के बनकर रह जाते हैं, पर हरगोविन्द का प्रत्येक पग उन्नति की ओर बढ़ता

गया। एक-एक सीढ़ी चढ़ता हुआ वह उन्नति के शिखर पर चढ़ता गया।

मुलतान डी० ए० वी० स्कूल में पढ़ाई के दिनों वह वहां कालेज के पुस्तकालय में जाकर पुस्तकें पढ़ा करता था। उसका स्वभाव भी पहले से कुछ गंभीर हो चला था। वह शान्त बना रहता। स्वास्थ्य उसका साधारण ही था। कभी-कभी उसे स्वास्थ्य-सुधार का ध्यान आता और वह व्यायाम आदि करना प्रारम्भ कर देता, पर यह क्रम ज्यादा देर नहीं चलता। स्वदेशी से उसे प्यार था और वह प्रायः खादी पहनता था। अपने प्रतिभाशाली होने का अभिमान उसने कभी नहीं किया। वह विनयशील और कुछ संकोची स्वभाव का था।

डी० ए० वी० स्कूल के अध्यापकों का विश्वास था कि हरगोविन्द मैट्रिक की परीक्षा में विशेष स्थान प्राप्त करेगा। और स्कूल के गौरव को बढ़ाएगा।

मैट्रिक की परीक्षा हो गई। जब परिणाम निकला तो उसे देखकर हरगोविन्द रो पड़ा! क्या वह अनुत्तीर्ण हो गया था? नहीं, यह बात नहीं है। फिर उसके रोने का क्या कारण हो सकता है? क्या वह प्रथम श्रेणी में पास नहीं हुआ था? वह प्रथम श्रेणी में ही पास

हुआ था और सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वालों में उसका स्थान दूसरा था। उसने ६९४ अंक प्राप्त किये थे। रोने का कारण यह था कि वह सर्वप्रथम नहीं आया था और सर्वप्रथम आने वाले छात्र से उसे १८ अंक कम मिले थे।

एक तरह से उसका रोना ठीक ही था। उसने सर्व प्रथम आने का लक्ष्य बनाया था, और वह प्रथम न आकर द्वितीय आया था।

छोटे नाले ज़रा-सी वर्षा होने पर पानी से भरकर इतराने लगते हैं। वह पानी उनमें समाता नहीं। चूहे को एक छोटी-सी चीज़ मिल जाए तो वह उसी से प्रसन्न हो जाता है। छोटे लोग भी जरा-सी सफलता मिल जाने पर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

दूसरा कोई होता तो इतने अंक और पंजाब-विश्वविद्यालय में दूसरा स्थान प्राप्त होने पर प्रसन्नता से उछल पड़ता।

मुलतान से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास करने और विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान प्राप्त करने के कारण विश्वविद्यालय की ओर से छात्रवृत्ति दी गई। आगे की पढ़ाई के लिए लाहौर के डी० ए० वी० कालेज में पढ़ने का निश्चय हुआ। वहां इंटर में प्रवेश मिल

गया। वहां इंटर की परीक्षा पास करने के बाद वहीं से १९४३ ई० में बी० एस-सी० की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। दोनों परीक्षाएं हरगोविन्द ने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। एम० एस-सी० आनर्स की शिक्षा गवर्नमेंट कालेज लाहौर में हुई। वह भी हरगोविन्द ने १९४५ ई० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली।

अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल पर हरगोविन्द खुराना प्रत्येक परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त करते रहे।

१९३९ ई० में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ होने पर हरगोविन्द के बड़े भाई नन्दलाल खुराना सेना में भर्ती हो गए थे, जब उन्हें दक्षिण-पूर्वी एशिया के मोर्चे पर भेजा गया तो नियम के अनुसार उनसे पूछा गया कि भारत में आप अपना वेतन जिसे देने को लिख देंगे, उसे मिलता रहेगा। श्री नन्दलाल खुराना ने अपना वेतन छोटे भाई हरगोविन्द खुराना को देने के लिए लिख दिया। इस प्रकार प्रतिमास नियमित रूप से रुपया मिलते रहने के कारण अपनी पढ़ाई का खर्च चलाने में हरगोविन्द को बड़ी सुविधा हुई। इसमें जो कुछ वह बचा पाया था, उससे विदेश जाने का खर्च भी चल गया।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के मोर्चे पर लड़ते हुए श्री

नन्दलाल खुराना, विद्रोह करके नेताजी सुभाषचन्द्रबोस की आज़ाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो गए। इन दिनों वे सिंगापुर और फिलिपाइन में अंग्रेज़ों के साथ लड़ते रहे। जापान पर अणुबम गिराए जाने से जापान ने हथियार डाल दिए। उधर अंग्रेज़ों ने विजय पाई और आज़ाद हिन्द फौज के सैनिकों को बन्दी बनाकर जेलों में डाल दिया गया। श्री नन्दलाल खुराना को मुलतान जेल में रखा गया।

शोध कार्य के लिए विदेशों को

१९४६ ई० में अर्देश्वर दलाल योजना के अन्तर्गत एक सौ युवा वैज्ञानिकों का जो पहला दल शोध-कार्य करने के लिए विदेश भेजा गया, श्री हरगोविन्द खुराना भी उनमें से एक थे। श्री हरगोविन्द खुराना इंग्लैंड के लिवरपूल विश्वविद्यालय में छात्र-वृत्ति प्राप्त शोधकर्त्ता के रूप में पी-एच० डी० की तैयारी करने लगे।

उधर श्री हरगोविन्द खुराना को विदेश गए अभी तीन मास के लगभग हुए थे कि उनके बड़े भाई नन्दलाल खुराना को मुलतान जेल से मुक्त कर दिया गया। आज़ाद हिन्द फौज के सैनिकों की सामूहिक मुक्ति हुई थी और उन्हें सेवानिवृत्त होने पर मिलने वाली कोई सुविधा नहीं दी गई थी।

लिवरपूल में भाई के जेल से छूटकर आ जाने का समाचार हरगोविन्द को मिला। भाई के छूटने की उन्हें असीम प्रसन्नता थी किन्तु उनके निर्वाह के लिए वे चिन्तित भी हुए।

श्री हरगोविन्द खुराना को लिवरपूल में जो छात्र-

वृत्ति मिलती थी, साधारणतया उससे वहां का खर्च भर चलता था, पर श्री हरगोविन्द तो भाई के लिए कुछ बचाकर भेजना चाहते थे। उन्होंने अपने खर्चों में कटौती करके, मितव्ययी होकर, कुछ बचाना शुरू किया। बचत की यह रकम वे स्वदेश में भाई को भेजने लगे।

इन दिनों खर्च कम करने के लिए लिवरपूल में श्री हरगोविन्द अपने कपड़े स्वयं धोते। बहुत सादा भोजन करते और कपड़े भी मंहगे नहीं पहनते।

इधर श्री नन्दलाल खुराना छोटे भाई द्वारा भेजे रुपयों को अलग जमा करते रहे। अपने गुज़ारे के लिए वे स्वयं कमाने लगे। इस तरह उन्होंने जो रुपये बचाए वे बाद में दोबारा विदेश जाते समय फिर श्री हरगोविन्द के काम आए।

१९४७ ई० का वर्ष देश के लिए बड़े संकट का वर्ष था। देश का बटवारा हो गया। मुलतान जिला पाकिस्तान का भाग बना। वहां से हिन्दुओं को अपनी जन्मभूमि छोड़कर भागना पड़ा। खुराना परिवार भी मुलतान छोड़कर दिल्ली आ गया।

१९४८ ई० में हरगोविन्द खुराना को लिवरपूल विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिल गई।

फिर भारत के ही फेलोशिप से ज्यूरिख के फेडरल इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी में प्रोफेसर वी० प्रेलाग के अधीन शोध-कार्य करते रहे।

फिर सरकार के बुलाने पर डॉ० खुराना स्वदेश लौट आए। स्वदेश लौटना आवश्यक भी था। उन्हे अर्देश्वर दलाल-योजना के अन्तर्गत जो छात्रवृत्ति मिली थी, उसमें यह शर्त थी कि अपनी वापसी पर वह कुछ निश्चित समय तक भारत सरकार की सेवा करेंगे। यदि भारत सरकार काम न दे सकी तो फिर वह कहीं दूसरी जगह काम करने के लिए स्वतंत्र होंगे।

स्वदेश में नौकरी के लिए दौड़-धूप

स्वदेश आकर डा० खुराना ने कई जगह सरकारी नौकरी के लिए प्रयत्न किया किन्तु सफलता कहीं नहीं मिली।

कृषि अनुसन्धान की इण्डियन इन्स्टीट्यूट में एक सहायक आर्गेनिक कैमिस्ट का स्थान रिक्त था। प्रार्थनापत्र दिया गया पर उन्हें वह स्थान नहीं मिला।

नेशनल बायोलोजिकल लेबोरेट्री में एक पद के लिए वे प्रत्याशी थे पर उनके नाम पर विचार तक नहीं किया गया।

बंगलोर की इंस्टीट्यूट आफ साइंसेज़ में प्राध्यापक का पद प्राप्त करने में भी उन्हें सफलता नहीं मिली।

तीन महीने इसी भाग-दौड़ में बीत गए, पर नौकरी नहीं मिली। कहीं मिलने की आशा भी नहीं दिखाई दी। अब डा० खुराना का मन बेचैन हो गया। चेहरे पर उदासी छा गई। कुछ करने को, कुछ कर दिखाने को उनका मन बेचैन था और यहां करने को कुछ था नहीं। डा० खुराना को लग रहा था जैसे मैं समय को नष्ट कर रहा हूं, और समय नष्ट करना

उन्हें पसन्द नहीं था।

वे फिर विदेश लौटने की बात सोचने लगे। उधर मां और भाई यद्यपि यह चाहते थे कि वह स्वदेश में ही रहे पर उन्नति में बाधक भी नहीं बनना चाहते थे।

मां की इच्छा थी कि बेटे का विवाह भारत में किया जाए। फिर चाहे वह पत्नी-सहित विदेश चला जाए। पर डा० खुराना चाहते थे कि मेरा जीवन-साथी बनने वाली लड़की ऐसी हो जो मेरे कार्य में भी मेरा साथ दे सके। उन्हें लगा कि भारत में ऐसी लड़की खोज निकालना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। मां ने भी समझ लिया कि बेटा ठीक ही कह रहा है। उन्होंने अपना हठ छोड़ दिया।

अब डा० खुराना विदेश जाने की तैयारी करने लगे। विदेश जाने के लिए रुपया चाहिए! रुपया पास था नहीं। इस कठिन अवसर पर डा० खुराना के बड़े भाई श्री नन्दलाल खुराना ने वह सारा रुपया छोटे भाई के हवाले कर दिया, जो उन्होंने जोड़ रखा था। यह वही रुपया था, जिसे डा० खुराना अपनी छात्र-वृत्ति से बचाकर भाई को भेजते रहे थे। रुपये की समस्या किसी हद तक सुलझ गई। डा० खुराना फिर इंगलैंड चले गए। वहां कैम्ब्रिज में नफील्ड फैलो

रहकर प्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार-विजेता वैज्ञानिक डा० एलेकजैंडर टोड के साथ कार्य करते रहे। १९५२ ई० तक यहां कार्य करने के पश्चात् वे कनाडा चले गए। यहां ब्रिटिश कोलंबिया अनुसन्धान-परिषद् में आर्गेनिक कैमिस्ट्री ग्रुप के विभागाध्यक्ष का पद उन्हें मिल गया।

यहीं पर उन्होंने १९५२ में एक स्विस संसद् सदस्य की, विज्ञान में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त पुत्री एस्थर से विवाह कर लिया।

डा० खुराना की पत्नी डा० एस्थर उनकी सच्ची जीवन-साथी बनीं और गृहस्थी के अतिरिक्त उनके वैज्ञानिक शोधकार्य में भी सहयोग देने लगीं।

कोलंबिया में कार्य करते हुए डा० खुराना ने अपनी पहली महत्वपूर्ण खोज की। यह खोज थी, डा० फ्रित्ज लिपमैन द्वारा खोजे गए को-एन्जाइम 'ए' का विश्लेषण। इस विश्लेषण से उनकी प्रसिद्धि सारे विज्ञान-जगत में फैल गई।

कैमिस्ट्री ग्रुप के विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करते हुए अनेक विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिक उनके साथ कार्य करने के लिए आते रहे। इनमें निम्नलिखित विश्वविद्यालयों के नाम उल्लेखनीय हैं।

बर्कले, कैम्ब्रिज, लास एंजिल्स, मास्को, स्वीडन

न्यूयार्क । प्रसिद्ध जीवशास्त्री प्रोफेसर आर्थर कोर्नबर्ग भी उसी प्रयोगशाला से कार्य करते रहे हैं ।

यहीं पर १९५८ ई० में डा० खुराना के महत्वपूर्ण शोधकार्य के लिए इन्हें 'मर्क' पुरस्कार प्रदान किया गया। अब डॉ० खुराना की गणना अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के महत्वपूर्ण वैज्ञानिकों में होने लगी । जब कोई वैज्ञानिक किसी विषय पर महत्त्वपूर्ण खोज करके सफलता प्राप्तकर लेता है तो संसार के विश्वविद्यालय उसे अपने यहां निमंत्रित करके, उस विषय पर व्याख्यान करवाते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सभी ऐसा करें । जो चाहें वे, निमंत्रित करते हैं ।

प्राय: शोधकार्य में लगे हुए वैज्ञानिक जब, किसी खोज को पूरा कर लेते हैं तो वे उसे विज्ञान की पत्रिकाओं में प्रकाशित करवा देते हैं । इससे दूसरे वैज्ञानिकों को इस खोज की जानकारी मिल जाती है । उस प्रकाशित खोज-विवरण के सम्बन्ध में वाद-विवाद भी हो सकता है । दूसरे वैज्ञानिक पूर्वज्ञात तथ्यों के आधार पर, उसी खोज को या उससे संम्बन्धित किसी अन्य खोज को आगे बढ़ा सकते हैं । इस से समय और धन की बचत तो होती ही है, बहुत-सा परिश्रम भी बच जाता है । प्राय: सभी खोजें और आविष्कार किसी

अकेले एक व्यक्ति की बुद्धि के परिणाम नहीं हैं। किसी भी आविष्कार या खोज का श्रेय पाने वाले व्यक्ति ने अपने से पहले के लोगों की खोजों और आविष्कारों से लाभ उठाया है। डा० खुराना को भी अनेक विश्वविद्यालयों ने अपने यहां व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया वे अपने व्याख्यानों में अपनी खोजों पर प्रकाश डालते रहे।

जिन दिनों वे लिवरपूल में पी-एच० डी० की तैयारी कर रहे थे, उन्हीं दिनों से उन्होंने अपनी खोजों के विवरण प्रकाशित कराने प्रारंभ कर दिये थे। बाद में ज्यों-ज्यों उनकी खोजें आगे बढ़ती गईं, उनके अधिकाधिक विवरण प्रकाशित होने लगे।

लिवरपूल से उन्होंने चार निबन्ध प्रकाशित कराए थे। कैम्ब्रिज से छः और ज्यूरिख से दो। कनाडा में कार्य करते हुए उन्होंने ५३ शोध निबन्ध प्रकाशित कराए।

एक विभागाध्यक्ष का उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य करते हुए तथा स्वयं शोध करते तथा दूसरे शोधकर्त्ताओं का निर्देशन करते हुए शोध-निबन्ध प्रस्तुत करना कोई सरल कार्य नहीं है, पर डा० खुराना की कार्य करने की शक्ति कमाल की है। वे लगातार १८-१८

घण्टे कार्य करते रहे हैं और आज भी करने को तत्पर हैं। वे प्रतिभा और कठिन परिश्रम के बल पर ही आज उन्नति के शिखर पर पहुंचे हैं। आज सारे विज्ञान-जगत में उनका नाम प्रसिद्ध हो गया है।

२७ मई, १९५९ ई० को कनाडा में डॉ० खुराना के सम्मान में एक बड़े भोज का आयोजन किया गया था, जिसमें उनके कार्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई थी। बड़े-बड़े वैज्ञानिक और प्रतिष्ठित नागरिक इस भोज में सम्मिलित हुए थे।

नोबेल पुरस्कार तथा अन्य पुरस्कार एवं सम्मान

लगभग आठ वर्ष कनाडा में शोधकार्य करने के पश्चात् डॉ० खुराना १९६० ई० में अमेरिका चले गए। वहां वे विसकान्सिन विश्वविद्यालय में, एंजाइम शोध संस्थान में प्रोफेसर नियुक्त हुए थे। १९६६ ई० में उन्होंने अमेरिका की नागरिकता ग्रहण कर ली थी। आज कल वे इसी शोध-संस्थान के महा-निदेशक हैं। यहां पर जो शोधकार्य उन्होंने किया, उसके लिए ही उन्हें विश्व का सबसे बड़ा पुरस्कार नोबेल पुरस्कार दिया गया है।

उनके शोधकार्य का महत्त्व केवल इसलिए ही नहीं है कि उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला है, इसलिए भी है कि यह मानव मात्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध होने वाला है।

इस नोबेल पुरस्कार में उनके दो और भागीदार भी हैं। इस प्रकार १९६८ वर्ष का नोबेल पुरस्कार तीन वैज्ञानिकों में बांटा गया। अन्य दो वैज्ञानिक हैं: डॉ० राबर्ट हाली (कार्नेल विश्वविद्यालय, अमेरिका)

और डा० मार्शल निरेन बर्ग (नेशनल हार्ट इन्स्टीट्यूट बेथेस्डा, अमेरिका)।

यह पुरस्कार आनुवंशिक-कोड (जेनेटिक कोड) की संरचना प्रस्तुत करने तथा प्रोटीन-संश्लेषण में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका की व्याख्या करने के लिए प्रदान किया गया है। डॉ० खुराना और डॉ० हाली ने आनुवंशिक-कोड की विस्तृत संरचना प्रस्तुत की है, और डॉ० मार्शल निरेन बर्ग ने उस संरचना की महत्त्व-पूर्ण कुंजी।

चिकित्सा और शारीरिक क्रिया विषयक १९६८ के नोबेल पुरस्कार की राशि ७०,००० डालर थी। इस वर्ष दो जाने वाली यह पुरस्कार-राशि गत वर्षों की अपेक्षा सर्वाधिक है। रुपयों में यह ५, ०४,००० रु० है।

नोबेल पुरस्कार की सूचना जब डॉ० खुराना के घर पहुंची, तब वे वहां नहीं थे। उनकी पत्नी उन्हें ढूंढने के लिए, ताकि यह शुभ समाचार उन्हें बताया जा सके, घर से बाहर निकलीं। वे एक एकान्त स्थान में बैठे कुछ मनन-चिन्तन कर रहे थे। संभवतः वे अपने भाषण की रूपरेखा बना रहे थे।

बाद में अपने पुरस्कृत होने के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने नम्र शब्दों में कहा, "यह शोध-

कार्य तो वास्तव में 'टीम वर्क' था। 'टीम वर्क' का अभिप्राय यह है कि कई लोगों के एक साथ किए गए प्रयत्न से पूरा होने वाला कार्य। वे अपने सहयोगियों को उचित श्रेय देना नहीं भूले। इससे डा० खुराना के उदार व्यक्तित्व पर काफी प्रकाश पड़ता है।

प्रायः सभी वैज्ञानिक खोजें और अविष्कार किसी अकेले वैज्ञानिक की खोज का परिणाम न होकर, अनेक देशों के वैज्ञानिकों के वर्षों के प्रयत्न का परिणाम हैं। डॉ० खुराना की खोज के बारे में भी यह बात सच है। इसी खोज के सहारे आगे बढ़कर, दूसरे वैज्ञानिक और ऊंची सीढ़ियां चढ़ेंगे और नई खोजें करेंगे।

पुरस्कार-विजेताओं के नामों की घोषणा पहले कर दी गई थी और पुरस्कृत होने वालों को यह राशि १० दिसम्बर, १९६८ को दी गई।

इस कार्य के लिए आयोजित एक भव्य समारोह में कैसेलिन संस्थान के अध्यक्ष प्रोफेसर रिचर्ड ने तीनों विजेताओं से कहा, "आप लोगों ने जीवशास्त्र में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अध्याय शुरू किया है।"

डॉ० खुराना और उनके सहयोगियों ने जीव-वैज्ञानिकों के लिए, जीवन और उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाले जैविक गुणों को समझने के लिए एक नया

द्वार खोल दिया है।

१९५८ में कनाडा के रसायन-संस्थान ने मर्क पुरस्कार प्रदान किया था, जिसकी चर्चा पहले भी कर चुके हैं।

१९६० ई० में इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक सर्विस का स्वर्णपदक उन्हें मिल चुका है।

१९६७ ई० में टोकियो में हुए अन्तर्राष्ट्रीय जैव रसायन-सम्मेलन का उद्घाटन भाषण करने का सम्मान-पूर्ण कार्य भी डॉ० खुराना द्वारा सम्पन्न कराया गया।

नोबेल पुरस्कार की घोषणा से एक दिन पूर्व ही उन्हें एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुरस्कार भी मिला है। इस पुरस्कार में भी, नोबेल पुरस्कार में उनके एक भागी-दार मार्शल नीरेनबर्ग डॉ० खुराना के भागीदार हैं।

यह पुरस्कार कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने दिया है। इसका नाम है 'लुइसाग्रौस हारविन्स पुरस्कार'। इस पुरस्कार की राशि पचीस हज़ार डालर है, जो दोनों पुरस्कार-विजेताओं में बराबर-बराबर बांटी गई।

नोबेल पुरस्कार की घोषणा के बाद डा० खुराना ने एक अन्य महत्वपूर्ण पुरस्कार और जीता है। यह है 'अलबर्ट लास्की औषधि-अनुसन्धान-पुरस्कार'। यह पुरस्कार १०,००० डालर (७५००० रु०) का है।

गणतंत्र-दिवस, २६ जनवरी, १९६९ को भारत के राष्ट्रपति की ओर से श्री हरगोविन्द खुराना को पद्म विभूषण के राष्ट्रीय अलंकरण से विभूषित कर सम्मानित किया गया है।

यह सम्मान उन्हें विज्ञान के क्षेत्र में विशिष्ट सेवा के उपलक्ष में प्रदान किया गया। ये अलंकरण सम्मान राष्ट्रपति की ओर से प्रतिवर्ष गणतंत्र-दिवस के उपलक्ष में विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट कार्य करने वालों को प्रदान किये जाते हैं।

जनवरी, १९६९, में जबलपुर विश्वविद्यालय ने डॉ० खुराना को डॉक्टर आफ साइंस (डी० एस-सी०) की सम्मानित उपाधि प्रदान की है। यह उपाधि उनकी अनुपस्थिति में दी गई।

खुराना परिवार

डॉ० हरगोविन्द खुराना की स्नेहमयी मां कृष्णा-देवी का देहान्त हो चुका है।

तीनों बड़े भाई दिल्ली में हैं। उनके एक भाई श्री नन्दलाल खुराना जो आज़ाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो गए थे और बाद में बन्दी बना लिए गए थे, अब अध्यापन का कार्य करते हैं।

आज़ाद हिन्द फौज के सैनिकों को काम-काज दिलाने के सरकारी निर्णय के अनुसार उन्हें अध्यापक नियुक्त किया गया था।

विस्कान्सिन स्थित डा० हरगोविन्द खुराना के परिवार में पांच सदस्य हैं; डा० हरगोविन्द खुराना, उनकी पत्नी डा० एस्थर और तीन बच्चे। बच्चों में दो पुत्रियां हैं और एक पुत्र। पुत्रियों के नाम हैं। जूलिया और इमीलिया। पुत्र का नाम देवराय खुराना।

डाक्टर खुराना का भारतस्थित अपने संबन्धियों से बड़ा लगाव है। वे यथासंभव उनकी आर्थिक सहायता भी करते रहते हैं। उनकी पत्नी डाक्टर एस्थर भी इन सम्बन्धियों को, जिन्हें संभवतः उन्होंने अभी तक

देखा भी नहीं है, अमेरिका से तरह-तरह के उपहार भेजती रहती हैं।

डाक्टर खुराना का गृहस्थ जीवन सब प्रकार से सुखी और समृद्ध है।

डाक्टर खुराना अपने से बड़े भाई श्री नन्दलाल खुराना को, जब वे भारत में विषम आर्थिक कठिनाई में फंसे हुए थे, अपने पास बुला लेना चाहते थे, किन्तु श्री नन्दलाल अनेक कारणों से यहां से नहीं जा सके।

डाक्टर खुराना ने अपने यशस्वी कार्यों से न केवल अपने परिवार को गौरवान्वित किया है, भारत के गौरव को भी बढ़ाया है।

दो वर्ष पूर्व तक वे भारतीय नागरिक थे। क्या हुआ यदि आज वे अमेरिका के नागरिक बन गए। भारत भूमि के साथ उनका सम्बन्ध अटूट है।

डाक्टर खुराना के एक सहपाठी — एम० एल० लखनपाल, १९५७ में कनाडा में खुराना से मिले थे। तब भी डाक्टर खुराना ने भारत लौटने की अपनी इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु उन्हें यह आशंका भी थी कि संभवतः भारत में शोधकार्य के लिए उपयुक्त सुविधाएं न मिल सकें। स्पष्ट है कि अमेरिका जैसा धनी देश जो सुविधाएं दे सकता है, वे सुविधाएं विकास-

शील भारत में उपलब्ध होनी कठिन हैं। वहां रहकर वे विज्ञान और मानवता की अधिक सेवा कर सकने में समर्थ हुए, यह क्या कम सन्तोष की बात है। उनके द्वारा उपलब्ध नवीन ज्ञान से भविष्य में समूची मानवता उपकृत होने वाली है।

नोबेल पुरस्कार के सम्बन्ध में

इस पुरस्कार के संस्थापक ऐल्फ्रेड बर्नार्ड नोबेल थे। उन्हीं के नाम पर इसका नाम नोबेल रखा गया है। नोबेल का जन्म १८३३ ई० में स्वीडन के स्टाकहोम नगर में हुआ था। इनके पिता १८४२ ई० में परिवार-सहित पीटर्स बर्ग में रहने लगे थे। यहां उनके कारखाने में बारूद, सुरंगें, खेती के औज़ार, और तारीपीडो बनते थे। ये चीज़ें वे रूसी सरकार को बेचते थे।

नोबेल अपने पिता के कारखाने में विस्फोटक पदार्थों का विशेष अध्ययन करने में लगे रहते थे। उन्हें इंजनीयरी का भी अच्छा ज्ञान था। १८६४ ई० में विस्फोटकों का यह कारखाना एक विस्फोट के कारण एकदम स्वाहा हो गया। नोबेल फिर भी विस्फोटक पदार्थों के अध्ययन में लगे रहे। बाद में इन्होंने ऐसा बारूद बना भी लिया था, जिसका विस्फोट करने पर धुआं नहीं निकलता था। रूस स्थित बाकू खनिज तेल की कम्पनियों में इनकी बड़ी पूंजी लगी हुई थी, जिससे बहुत आय होती थी।

ये जीवन भर अविवाहित रहे। अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व मानव-कल्याण की कामना से प्रेरित होकर इन्होंने अपने संचित धन का उपयोग करने के लिए एक ट्रस्ट की स्थापना की। इस ट्रस्ट में संचित धन-निधि द्वारा प्रतिवर्ष पांच पुरस्कार देने की व्यवस्था है। ये इस प्रकार हैं : १. भौतिकी, २. रसायन, ३. शरीर-क्रिया-विज्ञान व चिकित्सा, ४. आदर्शवादी साहित्य तथा ५. विश्वशान्ति के लिए सर्वोत्तम कार्य। ये पुरस्कार 'नोबेल पुरस्कार' कहलाते हैं।

नोबेल की मृत्यु के ५ वर्ष बाद १० दिसम्बर, १९०३ से ये पुरस्कार दिये जा रहे हैं। प्रत्येक पुरस्कार में सोने का पदक, उल्लेख-सहित सनद तथा डेढ़ लाख रुपयों के लगभग धन राशि रहती है (इस वर्ष १९६८ में यह राशि बढ़ा दी गई है)। प्रत्येक पुरस्कार दो या तीन जनों में बांटा भी जा सकता है। जिस वर्ष किसी विषय में कोई पुरस्कार-योग्य कार्य न हुआ तो, उस वर्ष पुरस्कार नहीं दिया जाता है। यह पुरस्कार प्राप्त करने के लिए किसी राष्ट्रीयता या जाति की बाधा नहीं है। अलग-अलग विषयों के लिए पुरस्कारों का सुझाव देने का उत्तरदायित्व अलग-अलग संस्थाओं पर है।

अभी तक जिन भारतीयों को नोबेल पुरस्कार मिल

चुके हैं , उनके नाम इस प्रकार हैं :

१. १९१३ में साहित्य विषय का पुरस्कार कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ ठाकुर को उनकी पुस्तक 'गीतांजलि' पर मिला था ।

२. १९३० में भौतिकी विषय का पुरस्कार सर चन्द्रशेखर वेंकट रामन को प्रकाश के विसरण पर अनुसन्धान तथा 'रामन प्रभाव' की खोज पर ।

३. डा० खुराना यह पुरस्कार प्राप्त करने वाले भारत में जन्मे तीसरे वैज्ञानिक हैं ।

पुरस्कार किस खोज के लिए ?

१९६८ ई० का नोबेल पुरस्कार शरीर-क्रिया-विज्ञान व चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए जिन तीन वैज्ञानिकों को मिला है उनमें एक भारत में जन्मे-पले डा० हरगोविन्द खुराना हैं। स्वाभाविक रूप से एक भारतीय वैज्ञानिक का नाम इन तीनों में होने के कारण, भारतीय पत्रों ने इस समाचार को विशेष महत्त्व दिया। पाठकों ने इस समाचार से अपने को गौरवान्वित अनुभव किया, पर बहुत कम लोग यह ठीक-ठीक जान पाए कि उन्होंने ऐसा कौन-सा कार्य किया है।

उनके कार्य को पूरी तरह समझ-समझा पाना तो कठिन ही है, फिर भी उसकी सामान्य जानकारी तो प्राप्त की ही जा सकती है। आगे इसी पर सरल-सुबोध रीति से प्रकाश डाला जाएगा।

बड़ी प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि 'बोए बीज बबूल के, आम कहां से खाए।' स्पष्ट है कि बबूल के बीज से आम का पेड़ नहीं उगता। गेंदे के बीज से गुलाब नहीं उगता। मक्का बीजोगे तो मक्का ही काटोगे। इसलिए

कहते हैं, 'जैसा बोओगे, वैसा काटोगे।'

हाथिनी की सन्तान हाथी और चुहिया की सन्तान चूहे ही होंगे। आप कहेंगे, इसमें क्या विशेष बात है, यह तो सभी जानते हैं।

सभी जानते हैं, यह ठीक है, पर "ऐसा क्यों होता है' और 'कैसे होता है ?" इसका उत्तर कोई नहीं जानता।

और वैज्ञानिक 'ऐसा तो प्रारम्भ से ही होता आया है' इस उत्तर से कभी सन्तुष्ट नहीं होता। वह तो प्रकृति के रहस्यों को जानना चाहता है। 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर खोजता है।

जब कोई बच्चा पैदा होता है तो पास-पड़ोस की स्त्रियां उसे देखकर झट से कह उठती हैं, यह तो एक-दम अपने पिता जैसा है, या मां जैसा है। कई बार पूरा रूप तो नहीं मिलता पर आंखें, नाक, माथा, होंठ या ठोडी माता-पिता में से किसी के साथ मिल रही होती है। माता-पिता में से किसी की आंखें भूरी होती हैं, तो बच्चे की भी वैसी ही होती हैं। कई बार माता-पिता से समानता न होकर दादा या दादी से समानता होती है।

यह तो हुई रूप की बात ! कोई रोग एक वंश के

लोगों में पाया जाता है। विनय के दादा को दमे की बीमारी थी। विनय के पिता को भी दमे बीमारी हो गई। और अब विनय को भी यह रोग लग गया है। ऐसे रोगों को पैतृक रोग कहते हैं, जो माता-पिता से उनकी सन्तान में पहुंच जाते हैं।

आप जानते हैं कि वैज्ञानिक सबसे अधिक जिज्ञासु लोग होते हैं। वे अपने चारों ओर फैले जीवन और जगत के बारे में सोचते रहते हैं। फिर किसी एक समस्या को लेकर उसका समाधान खोजने में जुट जाते हैं। 'ऐसा क्यों ?' और 'ऐसा कैसे ?' इन प्रश्नों का उत्तर वे हमें बताते हैं।

किसी देश का कोई वैज्ञानिक एक समस्या का समाधान खोजने में जुट जाता है। उस विषय पर यदि उससे पहले किसी वैज्ञानिक ने कुछ काम किया है, तो पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उसकी जानकारी प्राप्त करता है। जहां तक काम हो चुका है, वह उसके आगे से अपनी खोज प्रारंभ करता है। हो सकता है कि वह अपने जीवन-काल में उस खोज को पूरा न कर सके या बीच में ही छोड़ दे। अब अगला कोई वैज्ञानिक उस खोज को आगे बढ़ाता है। इस तरह एक-एक खोज के पीछे अनेक देशों के वैज्ञानिकों की

वर्षों की मेहनत होती है। जब खोज का अन्तिम चरण पूरा होता है तो यह मान लिया जाता है कि इस वैज्ञानिक ने यह खोज की। बिजली के लट्टू, सिनेमा-प्रोजेक्टर तथा अन्य अनेक आविष्कारों और खोजों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ है।

तो डा० खुराना, डा० राबर्ट हाली और मार्शल नीरेन बर्ग ने जो खोज की है, उसके पीछे भी अनेक देशों के अनेक व्यक्तियों का सहयोग है।

यह पुरस्कार आनुवंशिक संकेत (जेनेटिक कोड) की संरचना प्रस्तुत करने तथा प्रोटीन-संश्लेषण में उसकी महत्त्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए प्रदान किया गया है।

इस खोज के फलस्वरूप आनुवंशिक दोषों को दूर करना संभव हो सकेगा। पिता का रोग पुत्र में न पहुंचे इसके लिए प्रयत्न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त आनुवंशिकता को नियंत्रित भी किया जा सकेगा।

आनुवंशिकता क्या है ?

आनुवंशिकता अपने पूर्वजों से मिलने वाली विशेषताओं का ही दूसरा नाम है। सभी जानते हैं कि जीवों में जो विशेषताएं होती हैं, वे उन्हें अपने माता-पिता से अत्यन्त सूक्ष्म कणों के रूप में मिलती है। इन सूक्ष्म

कणों को जीन कहते हैं।

सभी प्राणियों की शरीर-रचना कोशिकाओं द्वारा होती है। जीन कोशिका का ही एक भाग है।

कोशिका :—प्रत्येक कोशिका के तीन मुख्य भाग होते हैं।

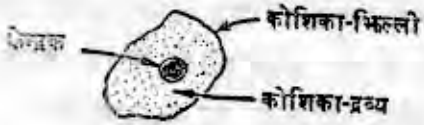

प्राणी-कोशिका

सबसे बाहर एक पतली झिल्ली होती है। इसे कोशिका झिल्ली कहते हैं। कोशिका के बीचों-बीच, मध्य में एक गोल पिण्ड होता है। इसे केन्द्रक कहते हैं। झिल्ली और केन्द्रक के बीच एक अन्य द्रव्य भरा होता है, इसे कोशिका-द्रव्य कहते हैं।

आनुवंशिकता के सम्बन्ध में खोज का काम कोई एक-सौ वर्ष पूर्व प्रारंभ हो गया था। आस्ट्रिया के एक मठ में एक साधु रहता था। उसका नाम था ग्रेगर मेंडेल। ग्रेगर मेंडेल ने अपने मठ के बगीचे में पौधों पर प्रयोग करके यह पता लगाने का प्रयत्न किया कि आकार-प्रकार और रंग-ढंग वंशानुक्रम से कैसे प्राप्त होते हैं। इसके लिए उसने विशेष रूप से मटर के पौधों

पर परीक्षण किया। वह इन परीक्षणों का लेखा-जोखा रखता रहा।

सन् १८६६ में मेंडेल ने अपने आनुसंधानों का पूरा विवरण प्रकाशित कर दिया। किन्तु उस समय के वैज्ञानिकों ने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। फल-स्वरूप इस कार्य का महत्त्व किसी ने नहीं आंका। बाद में कुछ वैज्ञानिकों ने इस विषय पर खोज करना प्रारंभ किया। उन्हें इस बात का पता तक नहीं था कि मेंडेल ने इस पर कुछ खोज की है। फिर जब उन्होंने मेंडेल के खोज-विवरण पढ़े तो घोषणा की कि मेंडेल की खोज सही तथ्यों पर आधारित है और हम भी उसी परिणाम पर पहुंचे हैं। तब लोगों का ध्यान मेंडेल और उसकी खोज पर गया। मेंडेल ने मटर तथा कुछ दूसरे पौधों और मक्खियों में संकरण करके प्रयोग किये थे।

आज मेंडेल की खोज आनुवंशिकी विज्ञान का आधार बन गई। यद्यपि आधुनिक खोज से इस विषय की अनेक उलझी हुई गुत्थियां सुलझी हैं, फिर भी मेंडेल की रीतियां और मौलिक सिद्धांत आज भी अपने मूल रूप में स्वीकृत हैं।

आपने कई जासूसी कहानियां पढ़ी होंगी। जासूसी कहानियों में कोई एक हत्यारा होता है। जासूस का

काम उस हत्यारे को खोज निकालना होता है। कहानी के अन्त में जासूस हत्यारे को पकड़ने में सफल हो जाता है।

हत्यारे को खोजने के लिए जासूस अनेक विधियां काम में लाता है। हत्यारे के सम्बन्ध जहां कहीं भी कुछ अता-पता जासूस को लगता है, वहीं वह उसका पीछा करता है। प्रायः हत्या के स्थान पर हत्यारे के हाथों-पैरों के निशान रह जाते हैं। कई बार हत्यारों के हत्या करने के तरीकों को देखकर भी कुछ अनुमान लगा लिया जाता है और पुराने हत्यारे जिनका रिकार्ड जासूसों के पास होता है, उनसे मिलान किया जाता है। इस तरह लम्बी भाग-दौड़ और सूझ-बूझ के साथ कई-कई जासूस मिलकर हत्यारे को पकड़ने में सफल होते हैं।

जीवन-निर्माता कोशिका के केन्द्र के भीतर आनुवंशिकता के घटकों की खोज भी, जासूस द्वारा की गई हत्यारे की खोज जैसी ही रोचक है। अन्तर केवल यह है कि खोज हत्यारे की नहीं जीवन देने वाले की है। इस खोज में एक सौ वर्ष से भी अधिक का समय लगा है और अनेक वैज्ञानिकों ने इसमें भाग लिया है।

मेंडेल के बाद १८६९ में, स्विस वैज्ञानिक फ्रेडरिक

मिस्चर ने कोशिका का अध्ययन प्रारंभ किया। वे कोशिका के केन्द्रक की बारीकी से छानबीन कर रहे थे। इस केन्द्रक को ही समस्त जीवधारियों की वृद्धि और उत्पत्ति से सम्बन्धित समझा जाता था।

कोशिका केन्द्रक के भीतर द्रव्य के धागे-से होते हैं। इन्हें गुणसूत्र (क्रोमोसोम) कहते हैं। प्रजनन प्रक्रिया में गुणसूत्र महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

कोशिका दो कोशिकाओं में विभक्त हो जाती है और प्रत्येक गुणसूत्र दो गुणसूत्रों में। ये अलग-अलग हो जाते हैं।

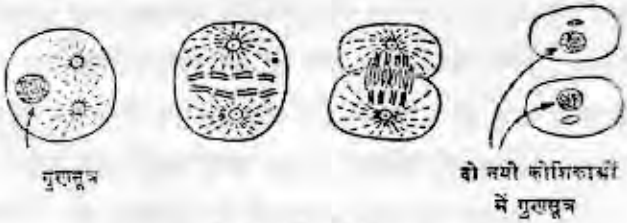

विभंजनशील कोशिका

मिस्चर ने अपने प्रयोगों के लिए मवाद को चुना। मवाद रक्त की श्वेत कोशिकाओं से बनता है। मिस्चर ने कोशिकाओं से केन्द्रक को अलग करने के अनेक प्रयत्न किए पर देर तक उसे सफलता नहीं मिली। यह

पता लग चुका था कि कोशिका-द्रव्य प्रोटीन होता है। वह यह भी जानता था कि आमाशय में पाया जाने वाला पेप्सिन नामक द्रव्य प्रोटीन को पचाता है। अतः उसने कुछ पेप्सिन प्राप्त किया, और उसे मवाद की कोशिकाओं के साथ मिला दिया। कुछ देर बाद उसने देखा तो स्वच्छ पीले द्रव्य में से कुछ बारीक स्लेटी रंग का चूर्ण नीचे बैठ गया था। सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) से देखने पर पता लगा कि यह स्लेटी चूर्ण कोशिकाओं के केन्द्रकों का समूह था। पेप्सीन ने कोशिका द्रव्य से केन्द्रक को अलग कर दिया था। इस चूर्ण का विश्लेषण करने पर मिस्चर ने देखा कि उसमें, कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, गन्धक तथा फास्फोरस था। मिस्चर ने इस चूर्ण का नाम रखा 'न्यूक्लिइन'। बाद में जब पता चला कि वह एसिड है तो नाम हो गया 'न्यूक्लिइक एसिड'। यह खोज यहीं रुक गई।

कोशिका की जांच-पड़ताल में तो बाद में भी कई वैज्ञानिक लगे रहे, किन्तु न्यूक्लिइक एसिड की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

१८८७ ई० में हालैंड देश के वैज्ञानिक ह्यूगो दव्री ने खोज प्रारम्भ की। वे आनुवंशिकता में होने वाले परिवर्तनों का पता लगाना चाहते थे। वनस्पतियों के

अध्ययन करने पर वे इस परिणाम पर पहुंचे कि परिवर्तन किसी क्रमिक ढंग से नहीं होते। कभी-कभी कुछ पौधों में आकस्मिक ढंग से परिवर्त्तन होता उन्होंने देखा। उन्होंने यह भी देखा कि जो परिवर्तन होता है वह समूचे आकार-प्रकार में नहीं होता। किसी एकाध बात में होता है। कभी रंग में तो कभी आकार में या कभी किसी अन्य बात में। इससे यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक गुण के लिए बीज में अलग-अलग हिसाब रहता है। अर्थात् प्रत्येक गुण की अलग इकाई होती है। इन्हीं दिनों उसे पता लगा कि उससे पूर्व मेंडेल ने भी इस विषय में खोज की है। उसने मेंडेल की खोज का विवरण पढ़ा, तो पता लगा कि दोनों के परिणाम एक जैसे हैं। दो अन्य वैज्ञानिक भी, जो इस दिशा में खोज कर रहे थे, उन्हें भी पता नहीं था कि मेंडेल इस विषय की खोज पहले कर चुके हैं, उसी परिणाम पर पहुंचे, जिस पर में मेंडेल पहुंचे थे।

अब प्रश्न यह था कि अलग-अलग गुणों के लिए निश्चित ये इकाइयां कहां होती हैं और कैसी होती हैं? इनमें परिवर्तन किस प्रकार होता है?

बाद में सटन नामक वैज्ञानिक ने जीव कोशिका के केन्द्रक में स्थित इन धागों को आनुवंशिकता के

लिए महत्त्वपूर्ण बताया। ये धागे साधारणतया सूक्ष्मदर्शी से भी दिखाई नहीं पड़ते हैं। कोशिका को रंगने पर ही इन्हें देख पाना संभव होता है, जब कोशिका एक से दो बनती है तो ये धागे भी दो भागों में बंटकर कोशिका के विपरीत सिरों पर पहुंच जाते हैं। परन्तु जब नर और मादा की कोशिकाएं आपस में मिलती हैं तो दोनों से मिलकर बनने वाले नए कोश में दोनों के आधे धागे ही पहुंचते हैं। आधे धागे, संख्या में आधे न होकर, बीच से दो भागों में बंटकर, पूरे के पूरे आधे इधर और आधे उधर हो जाते हैं। बीच में से चिर जाते हैं। ये धागे गुणसूत्र कहलाते हैं। नर और मादा से आधे-आधे गुणसूत्र मिलकर सन्तान की कोशिकाओं में गुण सूत्रों की संख्या पूरी करते हैं। यही कारण है कि माता-पिता दोनों के गुण आनुवंशिकता द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुंचते रहते हैं।

१९३१ ई० में जर्मन जीवशास्त्री जोकिम हैमलिंग ने इस ओर फिर ध्यान दिया। वे एक अत्यन्त छोटे पौधे का अध्ययन कर रहे थे। यह पौधा छोटे कुकुरमुत्ता के आकार का होता है। इस पौधे के तना और छतरी, दो भाग होते हैं। इस पौधे का नाम ऐसीटबुलेरिया था। प्रत्येक ऐसीटबुलेरिया की अपनी

विशेष आकृति की टोपी होती है। यह तथ्य ज्ञात था कि ऊपर की छतरी काट दी जाए तो फिर वैसी ही छतरी बन जाती है।

ऐसीटबुलेरिया का आरेख

हैर्मलिग ने अपने प्रयोग में एक प्रकार के ऐसीट-बुलेरिया (चित्र I) के तने के केन्द्रक का दूसरे प्रकार के ऐसीटबुलेरिया (चित्र II) के तने में रोपण किया, जिसकी छतरी काटकर अलग कर दी गई थी। देखना यह था कि रोपित केन्द्रक (चित्र I) छतरी के आकार को प्रभावित करेगा या नहीं। प्रयोग से स्पष्ट हो गया कि प्रभावित करेगा। प्रथम प्रकार (चित्र I) जैसी छतरी दूसरे प्रकार (चित्र II) के ऊपर बन गई।

इस प्रयोग से यह प्रमाणित हो गया कि केवल कोशिका के केन्द्र में ही आनुवंशिकता के लक्षणों को संचारित करने की शक्ति है। केन्द्रक ही आनुवंशिकता का निर्धारक है।

खोज फिर यहां रुक गई। कई वर्षों तक कोई नई

बात मालूम नहीं हुई।

१९४४ ई० में राकफेलर संस्थान ने इस शोध को आगे बढ़ाया। इस खोज के परिणाम स्वरूप फिर वैज्ञानिकों का ध्यन न्यूक्लिइक एसिड की ओर गया।

१९५५ ई० में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय-स्थित वेन्डेल स्टैनले की विषाणु प्रयोगशाला में न्यूक्लिइक एसिड का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

इस प्रयोगशाला में, वैज्ञानिक फ्रैन्केल-कोनरैट ने तय किया कि वे तम्बाकू की पत्तियों में चित्ती रोग उत्पन्न करने वाले विषाणु को विखण्डित करेंगे और पता लगाएंगे कि उसका कौन-सा भाग है जो प्रजनन और वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। उन्होंने यह भी निश्चय किया कि विखंडित विषाणु को दोबारा यथापूर्व स्थिति में जोड़ने का प्रयत्न करेंगे।

यह पहले से ज्ञात ही था कि विषाणुओं का खोल प्रोटीन से बना होता है और केन्द्रक न्यूक्लिइक एसिड का। अब पता यह लगाना था कि प्रजनन और वृद्धि के लिए विषाणु का कौन-सा भाग उत्तरदायी है, प्रोटीन या न्यूक्लिइक एसिड। उन्हें चित्ती-रोग विषाणु के प्रोटीन से न्यूक्लिइक एसिड को अलग करने में सफलता मिल गई। तब इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से देखने पर उन्हें न्यू-

क्लिइक एसिड के पतले-से धागे दिखाई दिये और उनसे पृथक प्रोटीन के खाली खोल। उन्होंने अपनी छत पर उगाए तम्बाकू के दो पौधों की पत्तियों पर दोनों चीजों को एक-एक पर रगड़ा। अब देखना यह था कि इन में से कौन-सी चीज़ रोग पैदा करने की शक्ति रखती है। दूसरे दिन जब उन्होंने दोनों पौधों को देखा तो किसी पर भी चित्ती रोग के लक्षण नहीं थे। उन्हें लगा कि संभवतः दोनों चीज़ें अलग-अलग रहने पर रोग फैलाने में असमर्थ हैं।

अब उन्होंने विखण्डित विषाणु को पुनः जोड़कर पूर्वावस्था में लाने की बात सोची। जब दोनों को मिलाया गया तो देखा कि थोड़ी देर बाद ही इस मिश्रण पर एक चमक प्रकट हो रही है। यह चमक इस बात का संकेत थी कि चित्ती रोग विषाणु की पूर्ण इकाई उपस्थित है, पर इसे जांच कर देखना अभी बाकी था।

ये जोड़े गए विषाणु फिर तम्बाकू के पौधों पर छोड़े गए। तीन दिन तक पौधों में रोग का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया। किन्तु चौथे दिन पत्तों पर चित्तियां प्रकट हो गईं। इससे प्रमाणित हो गया कि विषाणु संश्लेषण—पुनर्गठन, जो प्रयोगशाला में किया गया था, सफल रहा है। प्रयोग जारी रहे।

बाद में पता लगा कि प्रोटीन खोल से अलग हो जाने से न्यूक्लिइक एसिड बहुत कोमल हो जाता है। वह पौधों में रोग का संक्रमण करने में तभी सफल हो सकता है यदि उसे अलग करने के बाद तुरन्त पौधों पर रगड़ दिया जाए।

अब सारी बात समझ में आ गई। पहली बार न्यूक्लिइक एसिड पत्तियों पर रोग फैलाने में जो असमर्थ रहा था, उसका कारण यह था कि खोलों से अलग करने और पत्तियों पर रगड़ने के बीच ज्यादा समय बीत गया था जिसके कारण न्यूक्लिइक एसिड बहुत दुर्बल हो गया था।

खोज जारी रही।

बाद के निरीक्षण से पता लगा कि न्यूक्लिइक एसिड की दो किस्में हैं। जैसे मिलती-जुलती शक्ल के दो भाई हों। तब इन दोनों के दो नाम रख दिये गए, एक का 'डिआक्सीरिबो-न्यूक्लिइक एसिड' और दूसरे का 'रिबोन्यूक्लिइक एसिड'। इन दोनों का संक्षिप्त नाम इनके नाम के प्रारम्भिक अक्षरों के अनुसार डी० एन० ए० और आर० एन० ए० पड़ा।

वैज्ञानिकों ने इस बात का ठीक-ठीक पता लगा लिया है कि कोशिका के केन्द्रक में छिपे हुए डी० एन०

ए० के एक अत्यन्त सूक्ष्म रेशे में शरीर-रचना, वृद्धि और पैतृक गुणों—अनुवंशिकता—सम्बन्धी समस्त सूचनाएं संचित रहती हैं और वही उनका संचरण भी करता है। यह केवल प्रजनन करने के लिए उत्तरदायी कोशिकाओं में ही नहीं रहता, अपितु प्राणि मात्र तथा वनस्पति मात्र की प्रत्येक कोशिका में विद्यमान रहता है।

आपके शरीर की कोशिकाओं के केन्द्रक में स्थित डी० एन० ए०, घरेलू मक्खी के डी० एन० ए० और घास की पत्ती के डी० एन० ए० के आकार और रासायनिक रचना में कोई अन्तर नहीं होता। फिर भी यह इस डी० एन० ए० का ही चमत्कार है कि प्रत्येक प्राणी में उसके जातीय गुण—रूप-आकार और स्वभाव—सुरक्षित रहते हैं। मनुष्य की सन्तान मनुष्य, मक्खी के अण्डों से मक्खी और घास के बीज से घास ही पैदा होती है।

यह सब कैसे सम्भव होता है ? इतनी सारी सूचनाएं इतने छोटे से डी० एन० ए० के द्वारा कैसे ले जाई जाती हैं ? यह थी वह समस्या, जिसके समाधान के लिए कई प्रयोगशालाओं में कार्य हो रहा था।

१९५३ ई० तक वैज्ञानिकों को इतना पता चल चुका था कि डी० एन० ए० अपेक्षाकृत एक विशाल अणु है।

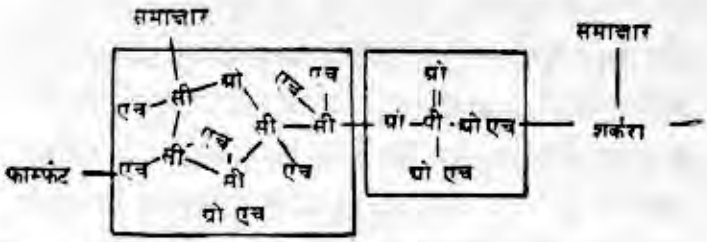

विशाल इस दृष्टि से कि वह हाइड्रोजन के अणु से साठ लाख गुणा भारी है। उन्हें यह भी पता था कि इसकी रचना शर्करा, तथा फास्फेट के अणुओं के जुड़ने से होती है।

इसके अतिरिक्त उसमें एडिनाइन, गुएनाइन, सिस्टोसाइन, और थायमाइन भी होते हैं। ये सब समाक्षार हैं।

डी० एन० ए० के अणु में, उपर्युक्त छः खण्डों की, जो अपनी अलग-अलग विशेषताएं रखते हैं, हजारों बार पुनरावृत्ति होती है। डी० एन० ए० के अणु घुमावदार सीढ़ी के आकार के होते हैं। सीढ़ी की लम्बी और घुमावदार रेखाएं शर्करा और फास्फेट के अणुओं से

निर्मित होती हैं और डंडे चार प्रकार के समाक्षार—(ए) एडिनाइन, (जी)—गुएनाइन (सि) सिस्टोसाइन और (टी) थायमाइन से। ये डंडे एक समान दूरी पर जुड़े रहते हैं। इनमें 'ए' और 'जी' समाक्षार बड़े और लम्बे होते हैं। इस प्रकार डंडे कुल चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार के कोई १०,००० डंडे डी० एन० ए० में होते हैं।

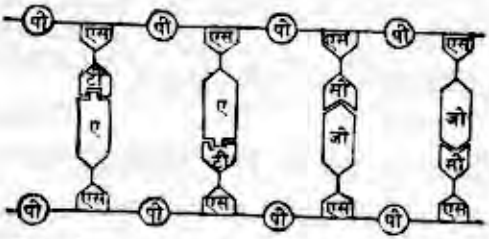

यद्यपि डंडे चार ही प्रकार के होते हैं, परन्तु सीढ़ियों की लम्बाई में वे जिस क्रम से जुड़े होते हैं, वह एक-दूसरे से बिल्कुल अलग होता है। यह क्रम विशेष ही किसी न किसी रूप में आनुवंशिक संकेतों का आधार है।

क्या इन दस हज़ार के लगभग डंडों द्वारा जीवन-रचना की बारीकियों के संकेत भेजे जा सकते हैं।

एक साधारण मकान बनाने के लिए नक्शे, लम्बाई-

चौड़ाई-ऊंचाई-मोटाई आदि के विवरणों की आवश्यकता होती है। किन्तु प्राणियों के शरीरों की रचना तो एक मकान की अपेक्षा अत्यन्त उलझी हुई है; फिर इस छोटे से अणु में उसके पूरे निर्देश किस प्रकार भेज सकते हैं ?

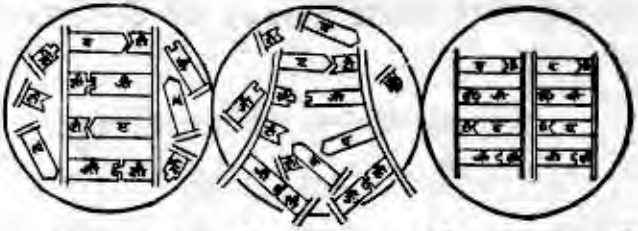

डी० एन० ए० के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि वह आनुवंशिकता सम्बन्धी जानकारी दे, अपितु यह भी आवश्यक है कि वह अपनी प्रतिलिपियां तैयार कर सके। अपने ही जैसे अणु तैयार करा सके।

डा० खुराना ने इस कार्य को आगे बढ़ाकर ऐसी स्थिति तक पहुंचा दिया है कि आनुवंशिक संकेतों को अब वैसी ही स्पष्टता से समझा जा सकता है जैसे कि तार के संकेतों को।

डा० खुराना की विज्ञान साधना जारी है। हमें विश्वास है कि वे भविष्य में इससे भी महत्वपूर्ण कार्य करने में सफल होंगे। ० ० ०